अरी ओ करुणा प्रभामय

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—६

अरी ओ करुणा प्रभामय

[सन् १९५६–१९५८ की कविताएँ]

'अज्ञेय'



भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

क्रम-सूची

एक चीड का राका

द्वारहीन द्वार

भूमिका

प्रस्तुत संग्रहकी अधिकांश कविताएँ इससे पूर्व अप्रकाशित हैं। इसका कारण यह भी रहा है कि जिस काल खण्डकी ये कविताएँ हैं उसमें मैं अधिकतर प्रवासी रहा, और यह भी कि प्रकाशनके लिए उपयुक्त माध्यमकी कमी रही। जो लिखकर फिर छपाया भी गया, उसके बारेमें दीन अथवा याचक भाव दरसाना लेखकको पाखण्ड-विनय ही जान पड़ता है, पर उसका यह चाहना अनुचित नहीं है कि उसकी रचना वहाँ छपे जहाँ उसके छपनेसे उसे तृप्ति, सन्तोष या कृतार्थताका बोध हो। ऐसा 'वहाँ' हिन्दीमें कहाँ है, इसका एक आध उत्तर तो हो सकता है, पर कहाँ कहाँ है इसकी गिनती करने चलनेपर एक हाथकी उँगलियासे आगे बढ़ना कदाचित् कठिन होगा। यों पत्र पत्रिकाएँ अनेक हैं, उनके प्रति लेखक कृतज्ञता का भी अनुभव करता है और अपने कर्त्तव्यका भी

एक कविता (संख्या २०, 'ऋतुराज') पुरानी है—कोई पन्द्रह वर्ष पहलेकी।

इन कविताओंको किन किन कोटियोंमें बाँटा जा सकता है, इसके बारेमें कुछ कहकर समीक्षककी सहायता करना (या उसे चिढ़ाना) लेखकको अभीष्ट नहीं, पर कुछ कविताओंको अलग उल्लिखित करना आवश्यक है। क्रम सूचीमें संख्या ५३–७८, जो 'एक चीड़ का खाका' नामक खण्डके अन्तर्गत हैं, जापानी कविताओं के अनुवाद हैं। मूल कविके नाम कविताके अन्तमें दिये गये हैं। जहाँ ये अनुवाद न होकर केवल छायानुवाद रह गये हैं, वहाँ कारण इस लेखककी मौलिकता नहीं है बल्कि उसकी असमर्थता ही, जापानी भाषा न जाननेसे वह मूल रोमनमें पढ़कर भी उसे समझनेसे वंचित रहा और अंग्रेजी अनुवादों या जापानी बन्धुओं द्वारा की गयी व्याख्याओंपर ही निर्भर रहा। कहीं कहीं, जहाँ मूलसे अपनी दूरीको लेखक स्वयं स्पष्ट देख सकता था, वहाँ उसने जापानी कविका नामोल्लेख अपने अधिकारसे बाहर मानकर केवल जापानी काव्यका ऋण स्वीकार कर लिया है (संख्या ५३, ५५, ६४, ७५)।

जापान और साधारणतया एशियाका भूगोल इतना ही नहीं है। जापानके 'ज़ेन' बौद्ध सम्प्रदायका विचार और साधना पद्धतियों का, और तत्सम्बन्धी साहित्य और प्रचारका भी, लेखक आभारी है। प्रत्येक साधना दृष्टि देती है—इसके सन्दर्भमें किसी भी 'देखने' में कुछ 'न देखना' भी सन्निहित होता है क्योंकि प्रत्येक दृष्टि अनिवार्य तथा वृत्तिधर्मा (सलेक्टिव) है। इस दृष्टिकी सम्पूर्णता ओरकी विवृतियोंके जोड़का नहीं, एकके सारभूत तादात्म्यका नाम है। चीन और जापानकी चित्रकला और जापानकी काव्य-परम्परासे पश्चिमके कई कवियोंने नयी दृष्टि पायी। हम भारतवासी, जो केवल 'पूर्व' होनेके नाते 'दूर पूर्व' और 'पश्चिम' के बीचमें आते हैं, इन देशोंकी कलासे उतने दूर नहीं हैं जितने फ्रांस या जर्मनीके कवि थे। फिर भी हम उनसे नयी दृष्टि पा सकते हैं—उनकी परम्परामें भारतकी जो देन रही, उसीके तद्देशीय रूपमें भी। जापानी 'ज़ेन' भारतीय 'ध्यान' का ही रूप है, किन्तु ज़ेनका साहित्य भंडार आजके भारतीय लेखकके लिए भी कितना स्फूर्तिप्रद है! प्रस्तुत संग्रहमें अनुवादोंको छोड़कर अन्य अनेक कविताओंमें भी पूर्वके (और पश्चिमके भी क्यों नहीं?) प्रभाव मिलेंगे, लेखक सभीका स्वीकारी है। इतने ही से वह अभारतीय या अहिन्दी हो गया है, ऐसा न वह मानता है न पूर्व और पश्चिमके प्रभाव देने वाले (यदि न इस संग्रहको पढ़ सकते!) मानते। हिन्दीके अध्यापन-रत आलोचक ऐसा कहते आये हैं और अब स्वयं लेखककी स्वीकारोक्तिका प्रमाण भी दे सकेंगे, इस सम्भावनासे वह आशंकित नहीं है। बन्द घरमें प्रकाश पूर्व या पश्चिम या किसी भी निश्चित दिशासे आता है—पर खुले आकाशमें वह सभी ओरसे समाया रहता है, इसीमें उसका आकाशत्व है। उसी खुले आकाशको अपनी बाहोंमें भर सके, यह लेखकका स्वप्न रहा है, घरोंके मामलेमें तो वह यायावर ही है।

—'अज्ञेय'

गुरुस्थानीया भउदि का

—हाँ, विस्मय विभोर
सब जैसे हैं, मैं भी हूँ
किन्तु जानता हूँ रहस्य मैं अन्तरतम में
भरणी शुभदा, भरणी है, पर यह प्रणाम मेरा
है तुम को, केवल तुम को—

रोपयित्री

•

अच्छा खंडित सत्य

अच्छा
खंडित सत्य
सुघर नीरन्ध्र मृषा से,
अच्छा
पीड़ित प्यार सहिष्णु
अकम्पित निर्ममता से।

अच्छी कुण्ठा-रहित इकाई
साँचे-ढले समाज से,
अच्छा
अपना ठाठ फकीरी
मँगनी के सुख-साज से ।

अच्छा
सार्थक मौन
व्यर्थ के श्रवण मधुर भी छन्द से ।
अच्छा
निर्धन दानी का उघडा उर्वर दुख
धनी सूम के बंजर धुआँ-घुटे आनन्द से ।

अच्छे
अनुभव की भट्ठी में तपे हुए कण-दो कण
अन्तर्दृष्टि के,
झूठे नुस्खे वाद, रूढ़ि, उपलब्धि परायी के प्रकाश से
रूप शिव, रूप-सत्य की सृष्टि के ।



२

हम कृती नहीं हैं

हम कृती नहीं हैं
कृतिकारों के अनुयायी भी नहीं कदाचित्।
क्या हो, विकल्प इस का हम करें, हमें कब
इस विलास का योग मिला ?—जो
हों, इतने भर को ही
भरसक तपते-जलते रहे—रह गये ?
हम हुए, यही बस,
नामहीन हम, निर्विशेष्य,
कुछ हम ने किया नहीं।

या केवल
मानव होने की पीड़ा का एक नया स्तर खोला
नया रन्ध्र इस रुँधे दर्द की भी दिवार में फोड़ा
उस से फूटा जो आलोक, उसे
—छितरा जाने से पहले—
निर्निमेष आँखों से देखा
निर्मम मानस से पहचाना
नाम दिया।

चाहे
तकने में आँखें फूट जायें,
चाहे

अर्थ-भार से तन कर भाषा की झिल्ली फट जाये,
चाहे
परिचिति को गहरे उकेरते
सवेदन का प्याला टूट जाय
देखा
पहचाना
नाम दिया ।

छूती नहीं है
हाँ, बस इतने भर को हम
आजीवन तपते-जलते रहे—रह गये ।



शब्द और सत्य

यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया था
यह नहीं कि मुझ को शब्द अचानक कभी-कभी मिलता है
दोनो जब-तब सम्मुख आते ही रहते है ।
प्रश्न यही रहता है
दोनो जो अपने बीच एक दीवार बनाये रहते है
मै कब, कैसे, उन के अनदेखे
उस में सेंध लगा दूँ
या भर कर विस्फोटक
उसे उडा दूँ ।

कवि जो होंगे हो, जो कुछ करते है [illegible]
प्रयोजन मेरा बस इतना है—
ये दोनो जो
सदा एक-दूसरे से तन कर [illegible]
कब, कैसे, किस आ[illegible]
इन्हें मिला दूँ—
दोनों जो है बन्धु, [illegible] ।

नया कवि : आत्म-स्वीकार

किसी का सत्य था,
मैंने सन्दर्भ में जोड़ दिया।
कोई मधु-कोष काट लाया था,
मैंने निचोड़ लिया।

किसी की उक्ति में गरिमा थी
मैंने उसे थोड़ा-सा सँवार दिया,
किसी की संवेदना में आग का-सा ताप था
मै ने दूर हटते-हटते उसे धिक्कार दिया।

कोई हुनरमन्द था
मैंने देखा और कहा, 'यों!'
थका भारवाही पाया—
घुड़का या कोंच दिया, 'क्यों?'

किसी की पौध थी,
मैंने सींची और बढ़ने पर अपना ली,
किसी की लगायी लता थी,
मैंने दो बल्ली गाड़ उसी पर छवा ली।

किसी की कली थी
मैंने अनदेखे में बीन ली,
किसी की बात थी
मैंने मुँह से छीन ली।

यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ
काव्य-तत्त्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ ?
चाहता हूँ आप मुझे
एक-एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें।
पर प्रतिमा—अरे, वह तो
जैसी आप को रुचे आप स्वयं गढ़ें।



बडी लम्बी राह

न देखो लौट कर पीछे
वहाँ कुछ नहीं दीखेगा
न कुछ है देखने को
उन लकीरों के सिवा, जो राह चलते
हमारे ही चेहरों पर लिख गयीं
अनुभूति के तेज़ाब से ।

राह चलते ।
बडी लम्बी राह ।

गा रही थी एक दिन
उस छोर बेपरवाह,
लोभनीय, सुहावनी, रूमानियत की चाह
—अवगुण्ठनमयी ठगिनी !—
एक मीठी रागिनी ।

बडी लम्बी राह ।
आज सँकरे मोड पर यह
वास्तविक की वस्तुवादी
धारदार विडम्बना
रो रही है
एक नगी डाकिनी ।

बडी लम्बी राह, आह,
पनाह इस पर नहीं--
कोई ठौर जिस पर छाँह हो।
कौन आँके मोल उस के शोध का
मूल्य के भी मूल्य की जो थाह पाने
एक मरु-सागर उलीच रहा अकेला?
जल जहाँ है नहीं
क्या वह अब्धि है?
रेत क्या
उपलब्धि है?

बडी लम्बी राह। जब उस ओर
थे हम, एक ही संवेदना की डोर
बाँधती थी हमें--तुम को और हम-तुम मानते थे
डोरियाँ कच्ची भले हों, सूत क्योंकि
पुनीत है, उन से बँधे
सरकार आयेंगे चले।

बडी लम्बी राह! अब इस ओर पर
संवेदना की आरियाँ ही
मुझे तुम से काटती है
और फिर लोहू-सनी उन धारियों मे
और राहों की अथक ललकार है।
और वे सरकार? कितनी बार हम-तुम और आयेंगे छले!

बड़ी लम्बी राह
आँख कोरों से लगा कर
ओठ के नीचे-मुड़े कोने तलक, तेज़ाब-आँकी
एक बाँकी रेख
नहीं जिस से अधिक लम्बी, अमिट या कि अमोघ
विधि की लेख।

न देखो लौट कर पीछे
भृकुटि मत कसो,
मत दो ओट चेहरे को,
चोट से मत बचो,
अनुभव डँसे,
न पूछो और कौन पड़ाव अब कब आयगा ?
तेज़ाब जब चुक जायगा—
थम जायँगे सब यन्त्र, कारोबार
अपने-आप सब रुक जायगा !



नये कवि से

आ, तू आ,
हाँ, आ,
मेरे पैरों की छाप-छाप पर रखता पैर,
मिटाता उसे,
मुझे मुँह भर-भर गाली देता—
आ, तू आ।

तेरा कहना है ठीक जिधर मैं चला
नहीं वह पथ था
मेरा आग्रह भी नहीं रहा मैं चलूँ उसी पर
सदा जिसे पथ कहा गया, जो
इतने इतने पैरों द्वारा रौंदा जाता रहा कि उस पर
कोई छाप नहीं पहचानी जा सकती थी।

मेरी खोज
नहीं थी उस मिट्टी की
जिस को जब चाहूँ मैं रौंदूँ मेरी आँखें
उलझी था उस तेजोमय प्रभा-पुञ्ज में
जिस से झरता कण-कण उस मिट्टी को
कर देता था कभी स्वर्ण तो कभी शस्य,
कभी जीव तो कभी जीव्य,
अनुक्षण नव-नव अंकुर-स्फोटित, नव-रूपायित।

मैं कभी न बन सका करुण, सच,
करुणा के उस अजस्र
सोते की ओर दौड़ता रहा जहाँ से
सब कुछ होता जाता था प्रतिपल
आलोकित,
रंजित,
दीप्त, हिरण्मय,
रहस्य-वेष्टित,
प्रभा-गर्भ,
जीवनमय।

मैं चला, उड़ा, भटका, रेंगा, फिसला,
—(क्या नाम क्रिया के उस की
आत्यन्तिक गति को कर सके निरूपित ?)—
तू जो भी कह—आक्रोश नहीं मुझ को,
मैं रुका नहीं मुड़ कर पीछे तकने को,
क्योंकि अभी भी मुझे सामने दीख रहा है
वह प्रकाश : अभी भी
मरी नहीं है ज्योति टेरती इन आँखों की।

तू आ,
तू देख कि यह पैरों की छाप पड़ी है जहाँ,
कहीं वह
है सूना फैलाव रेत का जिस में
कोई प्यासा मर सकता है
बीहड़ झारखंड है कहीं, कँटीली

तुझे पीठ ही दीखेगी—क्या करूँ कि मैं आगे हूँ
और देखता भी आगे की ओर ?
पगडंडे
मैंने नहीं निठाये—वे तो तभी, वहीं
निठ सकते हैं प्रशस्त हो मार्ग जहाँ पर ।
आता जा तू,
कहता जा जो जी आवे

मैं चला नहीं था पथ पर,
पर मैं चला इसी से
तुझ को बीहड में भी ये पद-चिह्न मिले हैं,
काँटों पर ये एकोन्मुख संकेत लहू के,
बालू की यह लिखत, मिटाने में ही
जिस को फिर से तू लिख देगा ।

आ तू, आ,
हाँ, आ,
मेरे पैरों की छाप-छाप पर रखता पैर,
जयी, युगनेता, पथ-प्रवर्त्तक,
आ तू आ—
ओ गतानुगामी !



यो बाढ हृदय के
मन भी टूट गया ।

जीवन ! वह अब भी है ।
विकिरित प्रकाश की किरणें
रंग-विरंगी
अनथक नाच रहीं कच-टुकड़े के
हर स्तर पर ।

हम बार-बार गहरे उतरे—
कितना गहरे !—पर
जब-जब जो कुछ भी लाये
उस से बस
और सतह पर भीड़ बढ गयी ।

सतहें—सतहें—
सब फेंक रहीं हैं लौट-लौट
वह कौंध
जिसे हम भर न रख सके
प्याले में

छिछली उथली घनी चौंध से अन्ध
घूमते है हम
अपने रचे हुए
मायावी उजियाले में ।

इशारे जिन्दगी के

ज़िन्दगी हर मोड पर करती रही हम को इशारे
जिन्हें हमने नहीं देखा।
क्योकि हम बॉधे हुए थे पट्टियॉ सस्कार की
और—हमने बॉधने से पूर्व देखा था !—
हमारी पट्टियॉ रगीन थीं।

ज़िन्दगी करती रही नीरव इशारे
हम धनी थे शब्द के।
'शब्द ईश्वर है, इसी से वह रहस् है,'
'शब्द अपने आप मे इति है,'—
हमे यह मोह अब छलता नहीं था।
शब्द-रत्नो की लडी हम गूँथ कर माला पिन्हाना चाहते थे
नये रूपाकार को,
और हमने यही जाना था
कि रूपाकार ही तो सार है।

एक नीरव नदी बहती जा रही थी,
बुल्बुले उस मे उमडते थे
रह सकेत के
हर उमडने पर हमे रोमाच होता था,
फूटना हर बुल्बुले का हमे तीखा दर्द देता था।
रोमाच! तीखा दर्द!
नीरव रह सकेत—हाय!

मुखर वाणी हुई बोलने हम लगे
हम को बोध था वे शब्द सुन्दर हैं—
सत्य भी हैं, सारमय हैं।
पर हमारे शब्द
जनता के नहीं थे
क्योंकि जो उन्मेष हम में हुआ
जनता का नहीं था
हमारा दर्द
जनता का नहीं था
संवेदना ने ही विलग कर दी
हमारी अनुभूति हम से।
यह जो लीक हम को मिली थी—
अन्धी गली थी।

चुक गयी क्या राह ? लिख दें हम
चरम लिखतम् पराजय की ?
इशारे क्या चुक गये हैं
जिन्दगी के अभिनयातुर में ?

चढ़े चाहे बोझ जितना
शास्त्र का, इतिहास का,
रूढ़ि के विन्यास का या सूक्त का—
कम नहीं रफ्तार होती जिन्दगी की।

मोड़ आगे और है—
कौन उस की ओट, देखो, झाँकता है ?



लौटे यात्री का वक्तव्य

सभी जगह
जो उपजाता है अन्न, पालता सब को,
उस की झुकी कमर है।

सभी जगह
जो शास्ता है, जो बागडोर थामे है, उस की दीठ मन्द है—
आँखों पर है चढ़ा हुआ मोटा चश्मा जो
प्राय धूमिल भी होता है।

सभी जगह
जिस की मुट्ठी में ताकत है
उस का भेजा है एक ओर भेड़िये,
दूसरी पर मर्कट का।

सभी जगह
जो रंग-बिरंगी जाज़म पर फैला कर सपनों की मनियारी
घात लगाते हैं गाहक की,
दिल मुर्गी का रखते हैं।

सभी जगह
जो मूल्यवान् है सकुचा रहता है, अदृश्य, सीपी के मोती-सा,
जो मिलता नहीं बिना सागर में डूबे

और यही वे भी, जिन की जिज्ञासा
कभी नहीं होती रूपायित, मुखरित,
जो अनासक्त हैं, जिन्हें स्वयं कुछ नहीं किसी से लेना है
क्या दोगे ? कितना दोगे—दे सकते हो—
मुझे नहीं, जग भर को, जीवन भर को,
प्यार ?



मुझे फिर-फिर दिखलाती है
चेहरे अमम्य,
आँखें असह्य,
जिन सब में दर्द भरा है
पर जिन को मैं पहले नहीं देख पाया था।
वही अपरिचित दो आँखें ही
चिर-माध्यम है
सब आँखों से, सब दर्दों से
मेरे चिर-परिचय का ।



मुझे फिर-फिर दिखर
चेहरे असत्य,
ऑखें असत्य,
जिन सब मे दर्द भ
पर जिन को मै प
वही अपरिचित दे
चिर-माध्यम है
सब ऑखो से,
मेरे चिर-परिचय

मरा क्या और मरे
इस लिए अगर जिये तो क्या
जिसे पीने को पानी नहीं

लहू का घूँट पिये तो क्या,
पकेगा फल, चखना होगा
उन्हीं को जो जीते हैं आज
जिन्हें है बहुत शील का ज्ञान—
नहीं है लाज।

तपी मिट्टी जो सोख न ले
अरे, क्या है इतना पानी ?
कि व्यर्थ है उद्बोधन, आह्वान—
व्यर्थ कवि की बानी ?



उसी से पानी उलीच
पहलेन साचते हैं,
और जो मर जायँ उन की मिट्टी भी
वहीं होनी बनी है।

कुएँ का पानी
राजाजी मँगाते हैं,
शौक़ से पीते हैं।
नदी पर लोग मन जाते हैं,
उस के किनारे मरते हैं
उस के सहारे जीते हैं।

बाँगर का कुआँ
राजाजी का अपना है,
लोक-जन के लिए एक
कहानी है, सपना है।

खादर की नदी नहीं
किसी की बपौती की,
पुरवे के हर घरवे को
गगा है अपनी कठौती की।

०

औद्योगिक बस्ती

पहाड़ियों से घिरी हुई इस छोटी सी-घाटी में
ये मुँहज़ोरी चिमनियाँ बराबर
धुआँ उगलती जाती हैं।

भीतर जलते लाल धातु के साथ
कमकरों की दुस्साध्य विषमताएँ भी
तप्त उबलती जाती हैं।

बँधी लीक पर रेलें लादे माल
चिहुँकती और रँभाती अफराये डाँगर-सी
ठिलती चलती जाती हैं।

उद्यम की कड़ी-कड़ी में बँधते जाते मुक्तिकाम
मानव की आशाएँ ही पल-पल
उस को छलती जाती हैं।



बिकाऊ

खोयी आँखें लौटा
धर मिट्टी का लौंदा
रचने लगा कुम्हार खिलौने।

मूर्ति पहली यह
कितनी सुन्दर! और दूसरी—
अरे रूपदर्शी! यह क्या है—
यह विरूप विद्रूप डरोना?

"मूर्तियाँ ही हैं दोनों,
दोनों रूप जगह दोनों की बनी हुई है।
मेले में दोनों जावेंगी।
यह भी बिकाऊ है,
वह भी बिकाऊ है।

"टिकाऊ—हाँ, टिकाऊ
यह नहीं है,
वह भी नहा है,
मगर टिकाऊ तो
मैं भी नहा हूँ—
तुम भी नहा हो।"

मैंने कहा, पेड—

मैंने कहा, "पेड, तुम इतने बडे हो,
इतने कडे हो,
न जाने कितने सौ बरसो के आँधी-पानी में
सिर ऊँचा किये अपनी जगह अडे हो।
सूरज उगता-डूबता है, चाँद भरता-छीजता है
ऋतुएँ बदलती है, मेघ उमडता-पसीजता है,
और तुम सब सहते हुए
सन्तुलित शान्त धीर रहते हुए
विनम्र हरियाली से ढँके, पर भीतर ठोठ कठैठे खडे हो।"

काँपा पेड, मर्मरित पत्तियाँ
बोली मानों, "नहीं, नहीं, नहीं, झूठा
श्रेय मुझे मत दो।
मै तो बार-बार झुकता, गिरता, उखडता
या कि सूखा ठूँठ हो के टूट जाता,
श्रेय है तो मेरे पैरों-तले इस मिट्टी को
जिस में न जाने कहाँ मेरी जडें खोयी है
ऊपर उठा हूँ उतना ही आकाश में
जितना कि मेरी जडें नीचे दूर धरती में समायी है।

श्रेय कुछ मेरा नहा, जो है इस नामहीन मिट्टी का।
और, हाँ, इन सब उगने-डूबने, भरने-छीजने,

नया कवि : आत्मोपदेश

शक्ति का मत गर्व कर
तू उपशमन का कर,
नहीं रूपाकार को, उस में
छिपा है सार जो, वह वर !
अनुभूति से मत डर—
मगर पाखण्ड उस के दर्द का मत कर
नहीं अपने-आप जो स्पन्दन डँसे
तेरी धमनियों को, त्वचा की कँपकँपी से
झूठ मत आभास उस का स्वयं
अपने को दिखाने की
उतावली से भर !

गैर को मत कोंच
तू पहचान अपनापन
चुनौती है जहाँ
तू अविकल्प साहस कर
'यहाँ प्रतिरोध दुर्बल है, सुलभ जय', सोच
ऐसा, साहसिक मत बन।
अभियान में जिन खाइयों में
कूदना है, कूद
भरा है उन में अँधेरा इस लिए
मत नयन अपने मूँद !

अकेला निर्वाण ?
वह भी है
अगर उस की चाह
सभी के कल्याण के हित
स्वेच्छया छोड़ी गयी हो।

कहाँ जाता है, इसे मत भूल
कौन आता है, न इस को भी
कभी मन से उतरने दे।
राह जिस की है उसी की है।
कगारे काट, पत्थर तोड़,
रोड़ी कूट, तू पथ बना, लेकिन
प्रकट हो जब जिसे आना है
तू चुप-चाप रस्ता छोड़
मुदित-मन वार दे दो फूल,
उसे आगे गुज़रने दे।



मै भी लूँगा बीन-छीन
कण-दो कण जो भी हाथ लगेंगे
उस रसवन्ती की पुष्कल करुणा के।

किन्तु जानता हूँ रहस्य मैं अन्तरतम में
धरणी सुखदा, शुभदा, वरदा,
भरणी है, पर यह प्रणाम मेरा
है तुम को,
केवल तुम को।

भूल गयी थी स्मृति—(दुर्बल!)—पर
तुम्हें
मैं नहीं भूला।



ऋतुराज

शिशिर ने पहन लिया वसन्त का दुकूल,
गन्धवह उड़ रहा पराग-धूल झूल,
काँटों का किरीट धारे बने देवदूत
पीत-वमन दमक उठे तिरस्कृत बबूल।
अरे, ऋतुराज आ गया।

पूछते हैं मेघ, 'क्या वसन्त आ गया ?'
हँस रहा समीर, 'वह छली भुला गया।'
किन्तु मस्त कोंपलें सलज्ज सोचतीं—
'हमें कौन स्नेह-स्पर्श कर जगा गया ?
वही ऋतुराज आ गया।

प्रस्फुटन अभी नहा लगी हुई है आस—
मुक्त हो चले अशक्त शीत-बद्ध दास।
मुक्त-प्राण, सर्वत्राण चैत्र आ रहा—
अंक भेंटने को तिलमिला उठे पलास।
क्योंकि ऋतुराज आ गया।

सिद्धि नहा, दौड़ते है किन्तु सिद्धिदूत—
वायु चल रही है आज स्निग्ध मन्त्रपूत।
स्तब्ध है प्रतीक्षमान दिग्वधूटियाँ—
जीवन प्रवाह बह रहा है अनाहूत।
क्योंकि ऋतुराज आ गया।

यह कली

यह कली,
झुटपुट अँधेरे में
पली थी देहात की गली में,
भोली-भली
नगर के राज-पथ, दिपते
प्रकाश में गयी छली।

झरी नहीं, बही कहीं
तो निकली नहा,
लहर कहाँ ? भँवर फँसी।
काल डँसी,
गयी भली—
यह कली।

•

रात में गाँव

धूप[1]

सूप-सूप भर
धूप-कनक
यह सूने नभ में गयी बिखर
चौधाया
बीन रहा है
उसे अकेला एक कुरर।



वसन्त

धूप[1]

सूप-सूप भर
धूप-कनक
यह सूने नभ में गयी बिखर
चौधाया
बीन रहा है
उसे अकेला एक कुरर।



पहाड़ी यात्रा

मेरे घोड़े की टाप
चौखटा जड़ती जाती है
आगे के नदी-व्योम, घाटी-पर्वत के आस-पास
मैं एक चित्र में
लिखा गया-सा आगे बढ़ता जाता हूँ।



घनी धुन्ध से छाया

घनी धुन्ध से छाया निकली
क्षण भर में फिर
घनी धुन्ध में गयी चली।

उस क्षण में मुझ को आलोक मिला,
रस मिला, चिरन्तन दृष्टि मिली।

सान्ध्य तारा

साँझ। बुझता क्षितिज।
मन की टूट-टूट पछाड़ खाती लहर।
काली उमड़ती परछाइयाँ।

तब एक
तारा भर गया आकाश की गहराइयाँ।



अगुरु-बेल

उलझती बाँह-सी
दुबली लता अगुरु की।
क्षितिज धुँधला।

तीर-सी यह याद
कितनी दूर की।



आँखें-१

दूर से पास बुलातीं
पर समीप आतीं तो आँखें लातीं
कितनी-कितनी दूरियाँ।

जीवन के हर आमन्त्रण में भरी हुई हैं
उफ! कितनी मजबूरियाँ!



प्यार : व्यक्त

रात मोम-सी बेबस ढलती रही
आस बाती-सी जलती रही,
भोर में सपना ।

दूर कितनी भी सही
तू है अपना ।



चिडिया की कहानी

उड गयी चिडिया
काँपी, फिर
थिर
हो गयी पत्ती ।



चुप-चाप

चुप-चाप चुप-चाप
झरने का स्वर
        हम में भर जाय,
चुप-चाप चुप-चाप
शरद की चाँदनी
        झील की लहरों पर तिर आय,
चुप-चाप चुप-चाप
जीवन का रहस्य,
जो कहा न जाय, हमारी
        ठहरी आँखों में गहराय,
चुप-चाप चुप-चाप
हम पुलकित विराट् में डूबें
        पर विराट् हम में मिल जाय—

चुप-चाप चुप-चाऽऽप



चिड़िया की कहानी

उड गयी चिड़िया
काँपी, फिर
थिर
हो गयी पत्ती ।



क्या हमीं रहे ?

रूप रूप रूप
हम पिघले
विवश बहे ।

तन उसने जो सब रिक्तों में भरा हुआ है
अपने भेद कहे ।

सत्य अनावृत के वे
जिसने वार सहे,
क्या हमीं रहे ?



सुख क्षण

यह दुस्सह सुख-क्षण
मिला अचानक हमें
अतर्कित।
तभी गया तो छोड़ गया
यह दर्द अकथ्य, अकल्पित।

रंग-बिरंगी मेघ-पताकाओं से
घिर आया नभ सारा
नीरव टूट गिरा गया जलता
एक अकेला तारा।



क्या हमीं रहे ?

रूप रूप रूप
हम पिघले
विवश बहे ।

तब उसने जो सब रिक्तों में भरा हुआ है
अपने भेद कहे ।

सत्य अनावृत के वे
जिसने वार सहे,
क्या हमा रहे ?



हे अमिताभ

हे अमिताभ !
नभ पूरित आलोक,
सुख से, सुरुचि से, रूप से, भरे ओक ,
हे अवलोकित
हे हिरण्यनाभ !



६

धरा-व्योम

अंकुरित धरा से क्षमा
व्योम से झरी रुपहली करुणा ।

सरि, सागर, सोते-निर्झर-सा
उमड़े जीवन
कहीं नहीं है मरना ।



सोन-मछली

हम निहारते रूप,
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली।

रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।



दीप पत्थर का

दीप पत्थर का
लजीली किरण की
    पद-चाप नीरव
अरी ओ करुणा प्रभामय !
    कब ? कब ?



साम्राज्ञी का नैवेद्य-दान*

हे महाबुद्ध !
मैं मन्दिर में आयी हूँ
रीते हाथ
फूल मैं ला न सकी ।

औरों का संग्रह
तेरे योग्य न होता ।

जो मुझे सुनाती
जीवन के विह्वल सुख-क्षण का गीत—
खोलती रूप-जगत् के द्वार जहाँ
तेरी करुणा
बुनती रहती है
भव के सपनों, क्षण के आनन्दों के
रह:सूत्र अविराम—
उस भोली मुग्धा को
कँपती
डाली से विलगा न सकी ।

*जापान की साम्राज्ञी कोमियो प्राचीन राजधानी नारा के बुद्ध मंदिर में जाते समय असमंजस में पड गयी थीं कि चढाने को क्या ले जावें और फिर रीते हाथ गयी थीं। यही घटना कविता का आधार है।

जो कली खिलेगी जहाँ, खिली,
जो फूल जहाँ है,
जो भी सुख
जिस भी डाली पर
हुआ पल्लवित, पुलकित,
मैं उसे वहीं पर
अक्षत, अनाघ्रात, अस्पृष्ट, अनाविल,
हे महाबुद्ध !
अर्पित करती हूँ तुझे।

वहा-वहा प्रत्येक भरे प्याला जीवन का,
वहा-वही नैवेद्य चढा
अपने सुन्दर आनन्द-निमिष का,
तेरा हो,
हे निगतागत के, वर्तमान के, पद्मकोश !
हे महाबुद्ध !



खिड़की एकाएक खुली

खिड़की एकाएक खुली,
बुझ गया दीप झोंके से,
हो गया बन्द वह ग्रन्थ
जिसे हम रात-रात
घोखते रहे,

पर खुला क्षितिज, पौ फटी,
प्रात निकला सूरज, जो सारे
अन्धकार को सोख गया।

धरती प्रकाश-आप्लावित!
हम मुक्त-कण्ठ
मुक्त हृदय
मुग्ध गा उठे
बिना मौन को भंग किये।

कौन हम?
उसी सूर्य के दूत
अनवरत धावित।

•

पहेली

गुरु ने छीन लिया हाथों से जाल,
शिष्य से बोले
"कहाँ चला ले जाल अभी ?
पहले मछलियाँ पकड़ तो ला ?"
तकता रह गया बिचारा
भौंचक।

बीत गये युग। चले गये गुरु।
बूढ़ा, धवल-केश, कुंचित-मुख
चेला
सोच रहा था अभी प्रश्न
'क्यों चला जाल ले ?
पहले, रे, मछलियाँ पकड़ तो ला ?'

सहसा भेद गयी तीखी आलोक-किरण।
'अरे, कब से बेचारी मछली
घिर अगाध से
सागर खोज रही है !'



मै देख रहा हूँ

मै देख रहा हूँ
झरी फूल से पँखुरी
—मै देख रहा हूँ अपने को ही झरते ।

मै चुप हूँ
वह मेरे भीतर वसन्त गाता है ।



मछलियाँ

न जाने मछलियाँ है या नहीं
आँखें तुम्हारी
किन्तु मेरी दीप्त जीवन-चेतना निश्चय नदी है
हर लहर की ओट जिस की
उन्हीं की गति
काँपती-सी
जी रही है
पिरोती-सी रश्मियाँ
हर बूँद में।

o

उन्मत्त

सूँघ ली है साँस भर-भर
गन्ध मैने इस निरन्तर
खुले जाते क्षितिज के उल्लास की,

खा गया हूँ नदी-तट की
लहरती निखरन जिसे सौ बार
धो-धो रुर गयी है अजली वातास की,

पी गया हूँ अधिक कुछ मै
स्निग्ध सहलाती हुई-सी
धूप यह हेमन्त की,

आज मुझ को चढ गयी है
यह अथाह अकूल अपलक
नीलिमा आकाश की।

मत छुओ, रोको, पुकारो मत मुझे,
जहाँ मै हूँ वहाँ से मत उतारो—
मुझे कुछ मत कहो।
—मगर हाँ, काँपे अगर डग तो
तुम्हीं, ओ तुम, तुम्हीं-तुम रहो
जो हाथ मेरा गहो।

●

जीवन-छाया

पुल पर झुका खड़ा हूँ देख रहा हूँ
अपनी परछाहीं
सोते के निर्मल जल पर—
तल पर, भीतर,
नीचे पथरीले-रेतीले थल पर
अरे, उसे ये पल-पल
भेद-भेद जाती हैं
कितनी उज्ज्वल
रंगारंग मछलियाँ!

रश्मि-बाण

"ओ अधीर पथ-यात्री
क्यों तुम
यहाँ सेतु पर आ कर
ठिठक गये !

"नयी नहीं है नदी, इसी के साथ साथ
तुम चलते आये
जाने मेरे अनजाने कितने दिन से !
नया नहीं है सेतु, पार तुम
जाने इससे कितनी बार गये हो
इसी उषा के इसी रंग के
इतने कोमल, इतने ही उज्वल प्रकाश में।
ठिठक गये क्यों
यहाँ सेतु पर आ कर
ओ अब तक अधीर पथ-यात्री ?"

"मैं ? मैं ठिठका नहीं।
देखना मेरा
दृष्टि-मार्ग से
कितना गहरे चलते जाना है
किस अन्तहीन अज्ञात दिशा में !

यहाँ सेतु से नीचे
देख रहा हूँ मै केवल अपनी छाया को
किन्तु दौडते,
पल-पल बदल रहे
लहरीले
जीते जल पर !"

"देख रहे हो छाया ?
छाया को !
अपनी को !
क्यों तन मुड कर भीतर को
अपने को नहीं देखते ?
रुकना भी तब नहीं पडेगा
जल बहता हो—बहता जाये—
सेतु हो न हो—
दिन हो, रजनी,
उष काल, दोपहरी हो, आँधी-कुहरा हो,
झुका मेघडम्बर हो या हो तारों-टँका चँदोवा—
तुम्हें न रुकना होगा
किसी मोड पर, चौराहे पर,
किसी सेतु पर !
क्यों तुम, ओ पथ-यात्री,
ठिठक गये ?"

"मुझे नदी से, पथ से
या कि सेतु से,
अपनी गति से, यति से, या कि स्वय अपने से,

अपनी छाया,
छाया से अपनी संगति से
कोई नहीं लगाव-दुराव। क्योंकि ये कोई
लक्ष्य नहीं मेरी यात्रा के।
चौंक गया हूँ मैं क्षण-भर को
क्योंकि अभी इस क्षण मैंने
कुछ देख लिया है।

"अभी-अभी जो
उजली मछली
भेद गयी है
सेतु पर खड़े मेरी छाया—
(चली गयी है नहीं!)
वही तो—
वही, वही तो
लक्ष्य रही अवचेतन, अनपहचाना
मेरी इस यात्रा का!

"खड़ा सेतु पर हूँ मैं,
देख रहा हूँ अपनी छाया,
मुझे बोध है नदी वहाँ नीचे बहती है
गहरी, वेगवती, प्लव-शीला।
ताल उसी की अविरल
लहरों की गति पर देता है प्रति-पल
स्पन्दन यह मेरी धमनी का
और चेतना को आलोकित
किये हुए है
असम्पृक्त यह सहज स्निग्ध वत्सल धूप का!

"सब मे हूँ मै, सब मुझ मे है,
सब से गुँथा हुआ हूँ, पर जो
बींध गया है सत्य मुझे वह
वह उजली मछली है
भेद गयी जो मेरी
बहुत-बहुत पहचानी
बहुत-बहुत अपनी यह
बहुत पुरानी छाया।

"रुका नहीं कुछ,
सब कुछ चलता ही जाता है,
रुका नहीं हूँ मै भी, खडा सेतु पर
देखो–देखो–देखो—
फिर आयी वह रश्मि-बाण, दामिनि-द्रुत !–देखो—
बेध रहा है मुझे लक्ष्य मेरे बाणों का !"



एक चीड़ का खाका



जापानी चित्र

मन्दिर दिखता नहीं, मूर्ति होगी भी, नहीं भरोसा।
किन्तु मेघ के पार गगन को चूम रहा है
रजित तोरण।*



* जापानी मुक्तक 'हाइकू' से प्रभावित।

शिशिर-वसन्त

शिशिर की वर्षा
चाँद मेघ की मुट्ठी में
छिपता नहीं।

बिजली उजली हिम-चादर पर
दिपती है।

पहले अधीर अहेरी
माँज रहे हैं तीर
भोर के अँधेरे में।

सिहरा है समीर
वह पीछे वसन्त आता है।*



* प्रथम छन्द टोकोवू पर आधारित, दूसरा जूगो, तीसरा यासुइ, चौथा बाशो पर। जापानी 'रेंगा' (शृङ्खलित पद्य) की पद्धति पर।

अरी हवा, अब

झीना चाँद
डाल पर कोपल
अरी हवा, अब तू वसन्त को
साथ झुलाती कब लायेगी ?*



* 'हाइकू' से प्रभावित ।

सरसों फूली

गरवीली हरियाली ने
गिरि-शृंग छोड़
सब धरती छा ली।

उगता चाँद, डूबता सूरज,
बीच झील-सी
पीली सरसों फूली।

[बूसोन]

●

अलूचे फूले

और कहीं भी क्या वसन्त आया है—
या कि अलूचे ही ये
हैं बौराये ?

[रोटो]



वसन्त का सूर्यास्त

सरसों की समवेत दीप्ति के
सागर में सूरज इकला
डूब गया।

[जापान]



वसन्त की वर्षा

वर्षा में वसन्त को मैने देखा
छाता एक, एक बरसाती
साथ साथ जाते, बतियाते ।

[बूसोन्]



ताल

ताल पुराना
कूदा दादुर
—गुड़प्।

[बाशो]

•

पुराना नगर

मौन पुराना नगर   साँझ
घटा-ध्वनि की लहरों पर तिरती
सुमन-गन्ध ।

[बाशो]



मछली

उजली मछली
मानो पानी का अन्तरंग ही
काँप गया हो ।

[राइज़ान]



विरहिणी

"दुबली ? हाँ गर्मी जो थी—"
इतना कह पायी
पर फिर सकी न रोक रुलाई ।

[किगिन्]



झिलमिल

झिलमिल के आर-पार
दो परछाइयाँ
बोली नहीं

देती रहा बार-बार
बस अँगड़ाइयाँ, जमुहाइयाँ।*



* 'हाइकू' से प्रभावित।

फूल फिर

झर चुका फूल फिर
उड़ा डाल की ओर—अरे !
तितली ।

[मोरिटाके]



झिल्ली-रव

झिल्ली का अविरत उल्लास
देता है संकेत कहा क्या उसे—
मृत्यु है कितनी पास ?

[बाशो]



सूनी साँझ

लम्बी पीली धूप
डरौने की पसरी परछाहीं
नाप रही सूनी पगडण्डी ।

[शोहा]



डार

डार कूँजों की
बादल चीर गया
यों साथी बिछुड चले ।

[टो सेइ]



शरत्पूर्णिमा

चाँद चितेरा
आँक रहा है शारद नभ में
एक चीड़ का खाका।

[रामेन्द्र]



क्वॉर का भोर

क्वॉर का भोर
अनमनी कतार में खड़ी
डार सारसों की।

बड़ा करुण
अरुणोदय।*



* प्रथम छंद कावेइ, दूसरा छन्द नाशो द्वारा रचित।

जाडों का चाँद

जाडों का चाँद
पके बालों पर
इस से भी क्या ठडा होगा पाला ?

[जो सो]



तीन चित्र

सूखी डाली पर
काक एक एकाकी
रात पतझर की।

इतना सन्नाटा—
झनकारें झिल्ली की
झारखण्ड में डूब गया।

रात सागर ॲंधियारा।
पुकार जल-पंछी की
धुँधली उजली।

[याशो]



बोझ

मेरी टोपी पर
बोझ बर्फ का हल्का है--
मेरा जो है।

[किकाकु]



प्यार

प्यार निल्ले में जागा
हाय अभागा—
आगे से ही रोना शुरू हुआ।

[पाहा]



डरौने पर कौआ

खेत मे एक डरौने पर
बैठा है डरा हुआ कौआ
पूस की हवा कटखनी बहती है।*



* 'हाइकू' से प्रभावित।

गरम सोते का स्नान

ताते पानी के सोते में
न्हाने का सुख
जाते पानी को धोता है
आता पानी।

[रासेत्सु]



यौनेन्* का विदा-गीत

चाँदनी के गीत मैंने बहुत गाये
और वह गाया नहीं जाता।
अब सुनो निर्वात रजनी में
अचंचल चीड़-वन में
गूँजता निःशब्द
सन्नाटा।



* यौनेन्—उन्नीसवीं शती की एक रूपवती जापानी कवयित्री जिसने दीक्षा लेने के लिए स्वयं तपे लोहे से अपना चेहरा झुलसा लिया क्योंकि ज़ेन गुरु सुन्दरी को शिष्या नहीं स्वीकार करते थे। छियासठ वर्ष की आयु में, मृत्यु निकट जान कर उसने एक छोटी कविता लिखी थी।

गरम सोते का स्नान

ताते पानी के सोते में
न्हाने का सुख
जाते पानी को धोता है
आता पानी ।

[रासेत्सू]



योनेन्* का विदा गीत

चाँदनी के गीत मैंने बहुत गाये
और वह गाया नहीं जाता।
अब सुनो निर्वात रजनी में
अचचल चीड़-वन में
गूँजता नि:शब्द
सन्नाटा।



* योनेन्—उन्नीसवीं शती की एक रूपवती जापानी कवयित्री जिसने दीक्षा लेने के लिए स्वयं तपे लोहे से अपना चेहरा झुलसा लिया क्योंकि ज़ेन गुरु सुन्दरी को शिष्या नहीं स्वीकार करते थे। छियासठ वर्ष की आयु में, मृत्यु निकट जान कर उसने एक छोटी कविता लिखी थी।

रासेत्सु का मृत्यु-गीत*

एक झरा पत्ता
फिर एक दूसरा और झरा ।
फिर एक—हाय !

•

---

* 'हाइकू' पद्धति के जापानी कवि मृत्यु से पहले एक अन्तिम हाइकू रचा करते थे, जो मृत्यु गीत माना जाता था । रासेत्सु के मृत्यु गीत का भाव लिया गया है ।

गीत : रोटी

एक हाथ से तोड रहा हूँ रोटी
गीत दूसरे से लिखता जाता हूँ ।

गीत फाड फेंके
रोटी रह गयी हाथ में ।

[मारसुओ ओका]





द्वारहीन द्वार

●

साधना का सत्य

यह जो दिया लिये तुम चले खोजने सत्य, बताओ
क्या प्रबन्ध कर चले
कि जिस बाती का तुम्हें भरोसा
वही जलेगी सदा
अकम्पित, उज्ज्वल एकरूप, निर्धूम ?

●

प्राप्ति

स्वय पथ-भटका हुआ
खोया हुआ शिशु
जुगनुओं को पकड़ने को दौड़ता है
किलकता है
'पा गया ! मै पा गया !'



एक हवा-सी बार-बार

जैसे अनाथ शिशु की अरथी को
ले जाते है लोग उठाये गोद, मगर
तीखी पीड़ा के बोध बिना,

वैसे ही एक हवा-सी बार-बार
ढोती स्मृतियो का भार
थकी-सी
मुझ में हो कर बह जाती है।



जन्म-दिवस

एक दिन
और दिनों-सा
आयु का एक बरस ले चला गया



सागर मे ऊब-डूब

सागर मे ऊब-डूब करती खाली बोतल
जाने किस के कब के (और कहाँ पर)
घडी-दो घडी सुख की साक्षी

और यह सागर जिसे नहा है
देश-काल का ओर-छोर—
नहीं है रूपाकार।



सागर-चित्र

सूने उदधि की लहर
धीर बधिर
सूने क्षितिज का आत्मलीन आलोक
अधूरा, धूसर, अन्धा

टकराहट चट्टानों पर
थोथे थप्पड की
जल के

उडे झाग की चिनियाहट
गालों पर,
ऑखो में किरकिरी रेत

अर्थहीन मॅडराते कई क्रौंच
हकलाते-से जब-तब कराहते हलके ।

यह क्षण   यह चित्र
दरिद्र ?
अ-मूल्य ? अमोल ?
विलीयमान ? चिर ?

●

सागर पर भोर

बहुत बडा है यह सागर का सूना
बहुत बडा यह ऊपर छाया औंधा खोखल।
असमजस के एक और दिन पर, ओ सूरज,
क्यो, क्यों, क्यों यह तुम उग आये ?



सागर पर साँझ

बहुत देर तक हम चुपचाप
देखा किये सागर को।
फिर कुछ धीरे-से बोला
"हाँ, लिख लो मन में इस जाती हुई धूप को,
चीड़ों में सरसराती हुई इस हवा को,
लहरों की भोली खिलखिलाहट को
लिख लो सब मन में—क्योंकि फिर
दिनों तक—(क्या बरसों तक ?)—
इसी सागर पर तुम लिखा करोगे
दर्द की एक रेखा—
बस एक रेखा
जो, हो सकता है, मूर्त्त स्मृति भी नहीं लायेगी—
केवल स्वयं आयेगी
एक रेखा जिसे
न बदला जा सकता है न मिटाया जा सकता है
न स्वीकार द्वारा ही डुबा दिया जा सकता है
क्योंकि वह दर्द की रेखा है,
और दर्द
स्वीकार से भी मिटता नहीं है "

लौट हम आये साँझ घिरते-न घिरते।
पर फिर उस सागर-तट पर रात को

उगा तारा
उसी पर झितरायी चन्द्रमा ने चाँदनी
उसी पर नभोवृत्त होता रहा और नीला, अपलक
ये भी तो लहरों पर कुछ लिखते रहे ?
हमने जो लिखा था
अगर वह दर्द है
तो ये क्या लिखते है ?
न सही दर्द उन मे,
न सही भावना—
फिर भी, निर्वेद भी,
कुछ तो वे लिखते है ?

हाँ !
कि "दर्द है तो ठीक है
(दर्द स्वीकार से भी मिटता नहीं है,
स्वीकार से पाप मिटते है,
पर दर्द पाप नहीं है ।)
दर्द कुछ मैला नहीं,
कुछ असुन्दर, अनिष्ट नहीं,
दर्द की अपनी एक दीप्ति है—
ग्लानि वह नहा देता ।
तुमने यदि
दर्द ही लिखा है,
भद्दा कुछ नहीं लिखा, झूठा कुछ नहीं लिखा,
तो आश्वस्त रहो
हम उसे गहरा ही करगे, सारमय बनायेंगे,
उस मे रग भरेंगे, रूप अवतरेंगे,

उसे माँज-माँज कर नयी एक आभा देते रहेंगे
काल भी उसे एक ओप ही देगा और ।
जाओ, वह लिखा हुआ दर्द यहाँ छोड़ जाओ—
तुम्हें वह बार-बार नाना शुभ रूपों में फलेगा ।"



सागर-तट : सन्ध्या-तारा

मिटता-मिटता भी मिटा नहीं आलोक,
झलक-सी छोड़ गया
सागर पर ।
वाणी सूनी कह चुकी विदा आँखों में
दुलराता आलिंगन आया
मौन उतर ।
एक दीर्घ निश्वास
व्योम में सन्ध्या-तारा
उठा सिहर ।



मैंने देखा, एक बूँद

मैंने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से
रँगी गयी क्षण भर
ढलते सूरज की आग से ।

मुझ को दीख गया
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से !



हवाई अड्डे पर विदा

उड गया गरजता यन्त्र-गरुड
बन बिन्दु, शून्य मे पिघल गया ।

पर साँप ? लोटता डँसता छोड गया वह उसे यहा पर ।

आँखो के आगे धीरे-धीरे सब धुँधला होता आता है—
मैदान, पेड, पानी, गिरि, घर, जन-संकुल ।



रात और दिन

रात बीतती है
घर के शान्त झुटपुटे कोने मे—
सब माँगें पक्षी-सी डैनो में सिर खोस
जहाँ पर
अपने ही म खो जाती हैं,
तनी साँस भी
स्वस्ति-भाव से
आ जाती है सहज विलम्बित लय पर।

दिन खुलता है
बडे शहर के शोर-भरे बीहड में बेकल दौड रहे
उमडे लोगो की भीडो मे—
मोड-मोड पर जिन्हे इश्तहारो के रग-बिरगे कोड
चलता रखते है रगीन सनसनी की तलाश मे।

रात अकेले मे
झीनी-सी छाया एक खडी रहती है सिरहाने,
कहती रहती है शब्द बिना
"तुम मेरे हो,
मै कहा रहूँ, यह मेरा स्नेह कवच-सा तुम्हे ढके रहता है,
मे छुओ करूँ, मेरे कामो मे हम दोनो की
प्रतिश्रुतियो का स्पन्दन है,

मै कुठी कहूँ, मेरे अन्तस मे अगुरु-धूम-सी
मगल-आशसाएँ उठती रहती है अविराम,
तुम सोओ, जागो, कर्म करो, हो विरत,
सर्वदा सग में मै हूँ
तुम मेरी अग्नि-शिखा हो—
यह देखो मेरी अर्द्धांजलि यह एक साथ
है उसे बचाती और सोपती—
और स्निग्ध उस की गरमाई से पुरती भी जाती है।"

दिन के जन-सकुल में
भीडपने की लहरो के अनवरत थपेडे
निर्मम दुहराते जाते है
"तुम अपने नहीं, पराये हो,
हम चाहे जितना गले मिलें,
चाहें जितना हम मुसकानो के निछा पॉवडे
बरसायें स्वागत पखुडियाँ,
तुम तुम हो—
अजनबी एक, बेमेल, निराले।
माला के एक फूल की पखुडियो के भीतर
चिउँटा
फूल-सेज पर सोये पर वह फूल नहीं है,
गुँथा नहीं है माला मे—
वैसे ही तुम, अजनबी, पराये हो।"

सुनते थे
रात और दिन मणियाँ है जीवन की माला की,
पर कौन जौहरी इतने अनमिल मनके
एक सूत्र मे गूँथेगा ?

•

रात-भर आते रहे सपने

रात भर आते रहे सपने
एक भी अच्छा नहीं था ।

किन्तु वास्तव जगत में मुझ को अनेकों बार
सुख मिलता रहा है ।

रात भी जब जगा
शय्या सुखद ही थी ।

यही क्या तब मानना होगा
कि सपने बुरे हैं सो सत्य है
और सुख की वास्तविकता
झूठ है ?



सपने का सच

सपने के प्यारे को
तुम्हें दिखाऊँ,
—यों सच को
सुन्दर होने दूँ।

सपने के सुन्दर को
प्यार करूँ,
सच को दिखलाऊँ—
सच होने दूँ।

पर सपने के सच को
किसे दिखाऊँ
जिस से वह सुन्दर हो
और उसे कर सकूँ
प्यार ?



रात-भर आते रहे सपने

रात भर आते रहे सपने
एक भी अच्छा नहा था।

किन्तु वास्तव जगत में मुझ को अनेकों वार
सुख मिलता रहा है।

रात भी जन जगा
शय्या सुखद ही थी।

यही क्या तब मानना होगा
कि सपने बुरे हैं सो सत्य हैं
और सुख की वास्तनिकता
झूठ है ?



सपने का सच

सपने के प्यारे को
तुम्हें दिखाऊँ,
—यों सच को
सुन्दर होने दूँ।

सपने के सुन्दर को
प्यार करूँ,
सच को दिखलाऊँ—
सच होने दूँ।

पर सपने के सच को
किसे दिखाऊँ
जिस से वह सुन्दर हो
और उसे कर सकूँ
प्यार ?

चाँदनी चुप-चाप

चाँदनी चुप चाप सारी रात
सूने आँगन में
        जाल रचती रही।
मेरी रूपहीन अभिलाषा
अधूरेपन की मद्धिम
        आँच पर सँचती रही।
व्यथा मेरी अनकही
आनन्द की सम्भावना के
        मनश्चित्रों से परचती रही।

मैं दम साधे रहा,
मन में अलक्षित
        आँधी मचती रही
प्रात बस इतना कि मेरी बात
सारी रात
उघड़ कर वासना का
        रूप लेने से बचती रही।



जागरण-क्षण

बरसों की मेरी नींद रही ।

बह गया समय की धारा में जो,
कौन मूर्ख उस को वापस माँगे ?
मैं आज जाग कर खोज रहा हूँ
वह क्षण जिस में मैं जागा हूँ ।



मोह-बन्ध

हम दोनो
एक बार जो मिले रहे
फिर मिले,
इसे क्या कहूँ
कि दुनिया इतनी छोटी है—
या इतनी बडी ?

हम मे जो कौंध गयी थी
एक बार पहचान, उसी मे
आज जुडी जो नयी कडी—
क्या कहूँ इसे
इतिहास दुबारा घटित नहा होता, या वह है
पुन घटित की एक लडी ?

बिछुड जायेंगे फिर हम,
फिर भी
हार आज को नहा गिनेंगे,
इस को अभी, आज क्या कहूँ
कि जीवन एक मोह है जो साहस को हर लेता है,
या कि एक साहस, जो काट रहा है
बन्ध मोह के घडी-घडी ?

यह मुकुर

यह मुकुर
दिया था तूने
आज यह मुझ से टूट गया।

यो मोह
कि तेरे प्रिय की छवि को
बार-बार मैं देखूँ—
छूट गया।

जिस दिन
यह मुकुर रचा तेरा,
तेरे हाथों में टूटेगा,

मोह दूसरा पात्र प्यार का
रचने का
उस दिन क्या
तुझ से छूटेगा ?

●

वह क्या लक्ष्य

वह क्या लक्ष्य
जिसे पा कर फिर प्यास रह गयी शेष
बताने की, क्या पाया ?

वह कैसा पथ-दर्शक
जो सारा पथ देख
स्वयं फिर आया
और साथ में—आत्म तोष से भरा—
मान-चित्र लाया ?

और वह कैसा राही
कहे कि हाँ, ठहरो, चलता हूँ
इस दोपहरी में भी, पर इतना बतला दो,
कितना पैडा मार
मिलेगी पहली छाया ?



'द्वारहीन द्वार'

द्वार के आगे
और द्वार
यह नहीं कि कुछ अवश्य
है उन के पार—
किन्तु हर बार
मिलेगा आलोक,
झरेगी रस-धार ।

घाट-घाट का पानी

होने और न होने की सीमा-रेखा पर सदा बने रहने का
असिधार-व्रत जिसने ठाना—सहज ठन गया जिस में—
वही जिया। पा गया अर्थ।

बार-बार जो जिये-मरे
यह नहीं कि वे सब
बार-बार तरवार-घाट पर
पीते रहे नये अर्थों का पानी।

अर्थ एक है मिलता है तो एक बार (गुड़-सा गूँगे को !)
और उसे दोहराना
दोहरे भ्रम में बह जाना है।



न दो प्यार

न दो प्यार
खोलो न द्वार
तुम कोई इस अन्धी दिवार में
पा लूँगा दरार
मै कोई । हो न सकूँगा पार—
न हो   मै बीज
उसी में डालूँगा   वह फूटेगा   फिर डार-डार
से उस की झूमेगा फल-भार ।

नहीं तो
और कौन है द्वार
—या प्यार ?



हिरोशिमा

एक दिन सहसा
सूरज निकला
अरे क्षितिज पर नहीं,
नगर के चौक
धूप बरसी
पर अन्तरिक्ष से नहीं,
फटी मिट्टी से।

छायाएँ मानव-जन की
दिशाहीन
सब ओर पड़ीं—वह सूरज
नहीं उगा था पूरब में, वह
बरसा सहसा
बीचों बीच नगरके
काल-सूर्य के रथ के
पहियों के ज्यों अरे टूट कर
बिखर गये हों
दसों दिशा में।

कुछ क्षण का वह उदय अस्त!
केवल एक प्रज्वलित क्षण की
दृश्य सोख लेने वाली दोपहरी।

फिर ?
छायाएँ मानव जन की
नहीं मिटीं लम्बी हो-हो कर
मानव ही सब भाप हो गये।
छायाएँ तो अभी लिखी हैं
झुलसे हुए पत्थरों पर
उजड़ी सड़कों की गच पर।

मानव का रचा हुआ सूरज
मानव को भाप बना कर सोख गया।
पत्थर पर लिखी हुई यह
जली हुई छाया
मानव की साखी है।



हिरोशिमा

एक दिन सहसा
सूरज निकला
अरे क्षितिज पर नहीं,
नगर के चौक
धूप बरसी
पर अन्तरिक्ष से नहीं,
फटी मिट्टी से ।

छायाएँ मानव-जन की
दिशाहीन
सब ओर पड़ीं—वह सूरज
नहा उगा था पूरब में, वह
बरसा सहसा
बीचों बीच नगरके
काल-सूर्य के रथ के
पहियो के ज्यों अरे टूट कर
बिखर गये हों
दसो दिशा में ।

कुछ क्षण का वह उदय अस्त !
केवल एक प्रज्वलित क्षण की
दृश्य सोख लेने वाली दोपहरी ।

फिर ?
छायाएँ मानव जन की
नहीं मिटीं लम्बी हो-हो कर
मानव ही सब भाप हो गये।
छायाएँ तो अभी लिखी हैं
झुलसे हुए पत्थरों पर
उजड़ी सड़कों की गच पर।

मानव का रचा हुआ सूरज
मानव को भाप बना कर सोख गया।
पत्थर पर लिखी हुई यह
जली हुई छाया
मानव की साखी है।



रात कटी

किसी तरह रात कटी
पौ फटी
मायाविनि छायाओं की
काली नीरन्ध्र यवनिका हटी ।

भोर की स्निग्ध बयार जगी,
तृण शाखाओं की सगल रजत कल्गियों से
कुछ ओस-बूँद झरे,
चिड़ियों ने किया रोर,
आकारों में फिर रग भरे,
गन्धों के छिपे कोश बिखरे,
दूर की घटा-ध्वनि वायु-मडल को कँपाने लगी ।

फेंके हुए अखबार की सरहराहट,
पड़ोस के चूल्हों के नये धुओं की चिनचिनाहटें,
ग्वाले के कमण्डल की खड़कन,
कलों से बेचैन नये पानी का टपकना,
बच्चों के पैरों की डगमग आहटें,
आलने पर कल के उतारे हुए, मसले, फटे हुए
कुरते का फरियादी रूप,
दवा की अधूरी शीशी में सटे हुए

रुई के गाले का चौंधी आँख-सा झपकना,
पिंजरे में सहसा जागे पंछी-सी
अपने दिल की धड़कन
    परिचिति के सहसा सब खुल गये द्वार
    उमड़ने लगा होने का आदि-अन्तहीन पारावार !

और यह सब इस कारणहीन, अप्रत्याशित,
अनधिकृत, विस्मयकर संयोग से कि
किसी दु:स्वप्न के चंगुल में अचानक रात में
साँस नहीं उलटी !



पगली आलोक-किरण

ओ तू पगली आलोक-किरण,
सूअर की खोली के फ़र्श पर बार-बार चमकी,
पर साधक की कुटिया को वज्र-अछूता
अन्धकार में छोड़ गयी ?



तू-मै

तू फाड़-फाड कर छप्पर चाहे
जिस को-तिस को देता जा
मै मोती अपने हिय के उन में भरा करूँ ।

तू जहाँ कहा जी करे
घड़े के घडे अमृत बरसाया कर
मै उस की बूँद-बूँद के सचय के हित सौ-सौ बार मरूँ ।

तू सुर-लोकों के द्वार खोल नित नये
राह पर नन्दन-वन कुसुमाता जा—
मै बार-बार हठ कर के यह, अनन्य यह मानव-लोक वरूँ ।



दाता और भिखारी

फूल खिलते रहे चुपचाप
मंजरी आयी
दबे पाँव, सकुचाती।

किन्तु मधु-मक्खियाँ, भौंरे
तड़फड़ाते रहे, करते रोर,
मुँह चिढ़ाते रहे वन की शान्ति को
अविराम अनगिन झनकते झींगुर।

भिखारी सब
बजाते गाल, बगलें,
फाड़ते आकाश
सकुचता, सहमता, चुपचाप
पथ से गुज़रता दाता।

●

मानव अकेला

भीड़ों में
जब-जब जिस-जिस से आँखें मिलती हैं
वह सहसा दिख जाता है
मानव
अंगारे-सा—भगवान्-सा
अकेला।

और हमारे सारे लोकाचार
राख की युगों-युगों की परतें हैं।



जब-जब

जब-जब कहता हूँ—
ओ, तुम कितने बदल गये हो !
तब-तब पहचान एक मुझ में जगती है।
जब-जब दुहराता हूँ
अब फिर तो ऐसी भूल नहीं हो सकती—
तब तब यह आस्था ही मुझ को ठगती है।

क्या कहा प्यार से इतर
ठौर है कोई
जो इतना दर्द सँभालेगा ?
पर मैं कहता हूँ
अरे आज पा गया प्यार मैं, वैसा
दर्द नहीं अब मुझ को सालेगा !



ब्राह्म-मुहूर्त : स्वस्तिवाचन

जियो उस प्यार में
जो मैंने तुम्हें दिया है,
उस दुःख में नहा जिसे
बेझिझक मैंने पिया है।

उस गान में जियो
जो मैंने तुम्हें सुनाया है,
उस आह में नहा जिसे
मैंने तुम से छिपाया है।

उस द्वार से गुज़रो
जो मैंने तुम्हारे लिए खोला है,
उस अन्धकार से नहीं
जिस की गहराई को
बार-बार मैंने तुम्हारी रक्षा की
भावना से टटोला है।

वह छादन तुम्हारा घर हो
जिसे मैं असीसों से बुनता हूँ, बुनूँगा,
वे काँटे-गोखरू तो मेरे हैं
जिन्हें मैं राह से चुनता हूँ, चुनूँगा।

वह पथ तुम्हारा हो
जिसे मैं तुम्हारे हित बनाता हूँ, बनाता रहूँगा,
मैं जो रोड़ा हूँ, उसे हथौड़े से तोड़-तोड़
मैं जो कारीगर हूँ, करीने से
सँवारता-सजाता हूँ, सजाता रहूँगा।

सागर के किनारे तक
तुम्हें पहुँचाने का
उदार उद्यम ही मेरा हो
फिर वहाँ जो लहर हो, तारा हो,
सोन-तरी हो, अरुण सवेरा हो,
वह सब, ओ मेरे वर्य !
तुम्हारा हो, तुम्हारा हो, तुम्हारा हो।



वहाँ पर बच जाय जो

जहाँ पर धन
नहीं है राशि वह जिस को समुद
तेरे चरण पर वार दूँ

जहाँ पर तन
नहीं है थाती-मिली वह धूल पावन
जिसे मैं चोले समान उतार दूँ

जहाँ पर मन
नहीं है यज्ञ का दुर्दान्त घोड़ा
जिसे लौटा तुझे दे
मैं समर्थ जयी कहाऊँ

जहाँ पर जन
नहीं है शक्ति का संघट्ट
जिस में डूब कर ही मैं
प्रतिष्ठित व्यक्तित्व पाऊँ

जहाँ पर
अहं भी
—जो अजाना, अछूता औ' उपेक्षावश अरक्षित हो
अनादृत रह गया हो--

नहा है अन्तिम निजत्व
लुटा जिसे
औदार्य का सन्तोष मेरा हो

—वहाँ पर
बच जाय जो
(वह क्या, मै नहा यह जानता, ओ देवता,
तू जान जो सब जानता है)
उमी अन्तिम सर्ग पर बच जाय जो
वही तेरा हो ।

वह जो हो
जो कुछ है वही है
उसी को ले
मुक्ति मुझ को दे ।

आज पूरे बोध से यह बात
जो मैने कही है
यही मेरा साक्ष्य है   मै
प्रतिश्रुत हूँ साथ
तेरे   यह मेरी सही है ।



टेर रहा सागर

जब-जब सागर में
मछली तड़पी—
तब-तब हमने उस की गहराई को जाना।
जब-जब उल्का
गिरा टूट कर—गिरा कहाँ ?—
हमने सूने को अन्तहीन पहचाना।

जो है, वह है,
रहस्य अज्ञेय यही
'है' ही है अपने-आप
जो 'होता' है, उस का होना ही
जिसे जानना हम कहते
उस की मर्यादा, माप।

जो है, वह अन्तहीन
घेरे है उस को जिस में
जो 'होता' है होता है,
जिस में ज्ञान हमारा
अर्थ टोहता, पाता,
बलखाता टटोलता
बढ़ता है, खोता है।

जितना है, सागर में नहीं
हमारी मछली में है
सभी दिशा में सागर जिस को घेर रहा है।
हम उसे नहीं,
वह हम को टेर रहा है।

आधुनिक कविके आन्तरिक सघषकी परिचायक ह। विचारोके इस तीखेपन के कारण सग्रहकी कुछ कविताओको लेकर काफी वाद विवाद भी रहा ह। लेकिन समग्र रूपमें इन कविताओको पढ़नेके बाद लगेगा कि कविका अभीष्ट तो वह सौन्दय-बोध और आनन्द ह जो भारतीय साहित्यकी चिरन्तन निधि है। और इसमें सन्देह नहीं कि यदि पूवग्रह-मुक्त मानसिक अवकाशमे इन्हें पढा जायगा तो पाठकको भी अपनी उस परम्परासे सम्पक्र मिलेगी जीवनमें आस्था और कायमें अपना समाधान तो मिलेगा ही।

सग्रहम जापानी कविताओंके कुछ अनुवाद एक बार फिर यह प्रमाणित करते ह कि कवि भारतीय होते हुए भी सार्वजनीन ह।